

वैराग्य भावना

(पं. भूधरदासजी कृत)

(दोहा)

बीज राख फल भोगवै, ज्यों किसान जगमाहिं ।
त्यों चक्री सुख में मगन, धर्म विसारै नाहिं ॥१॥

(जोगीरासा या नरेन्द्र छन्द)

इह विध राज करै नर नायक, भोगें पुण्य विशाला ।
सुखसागर में रमत निरन्तर, जात न जान्यो काला ॥
एक दिवस शुभ कर्म संयोगे, क्षेमंकर मुनि वन्दे ।
देखे श्रीगुरु के पद पंकज, लोचन अलि आनन्दे ॥२॥
तीन प्रदक्षिण दे सिर नायो, कर पूजा थुति कीनी ।
साधु समीप विनय कर बैठ्यो, चरनन में दिठि दीनी ॥
गुरु उपदेश्यो धर्म शिरोमणि, सुन राजा वैरागे ।
राजरमा वनितादिक जे रस, ते रस बेरस लागे ॥३॥
मुनि सूरज कथनी किरणावलि, लगत भ्रम बुधि भागी ।
भव-तन-भोग स्वरूप विचार्यो, परम धरम अनुरागी ॥
इह संसार महा-वन भीतर, भ्रमते ओर न आवै ।
जामन मरण जरा दव दाड़ै, जीव महादुःख पावै ॥४॥
कबहुँ जाय नरक थिति भुंजे, छेदन-भेदन भारी ।
कबहुँ पशु परजाय धरे तहँ, बध-बन्धन भयकारी ॥
सुरगति में परसम्पत्ति देखे, राग उदय दुःख होई ।
मानुषयोनि अनेक विपतिमय, सर्व सुखी नहिं कोई ॥५॥
कोई इष्ट-वियोगी विलखै, कोई अनिष्ट-संयोगी ।
कोई दीन दरिद्री विगुचे, कोई तन के रोगी ॥
किस ही घर कलिहारी नारी, कै बैरी-सम भाई ।
किस ही के दुःख बाहिर दीखे, किस ही उर दुचितार्ई ॥६॥

कोई पुत्र बिना नित झूरै, होय मरै तब रोवै ।
 खोटी संततिसों दुःख उपजै, क्यों प्राणी सुख सौवै ॥
 पुण्य-उदय जिनके तिनके भी, नाहिं सदा सुख साता ।
 यह जगवास जथारथ देखे, सब दीखै दुःख दाता ॥७॥
 जो संसार-विषै सुख होता, तीर्थङ्कर क्यों त्यागै ।
 काहे को शिव-साधन करते, संजमसों अनुरागै ॥
 देह अपावन अथिर घिनावन, यामें सार न कोई ।
 सागर के जलसों शुचि कीजै, तो भी शुद्ध न होई ॥८॥
 सप्त कुधातु भरी मल मूरत, चाम लपेटी सोहै ।
 अन्तर देखत या सम जग में, अवर अपावन को है ॥
 नव मल द्वार स्रवै निशिवासर, नाम लिये घिन आवै ।
 व्याधि उपाधि अनेक जहाँ तहँ, कौन सुधी सुख पावै ॥९॥
 पोषत तो दुःख दोष करै अति, सोषत सुख उपजावे ।
 दुर्जन देह स्वभाव बराबर, मूरख प्रीति बढ़ावै ॥
 राचन जोग स्वरूप न याको, विरचन जोग सही है ।
 यह तन पाय महातप कीजे, यामें सार यही है ॥१०॥
 भोग बुरे भवरोग बढ़ावें, बैरी हैं जग जीके ।
 बेरस होय विपाक समय अति, सेवत लागे नीके ॥
 वज्र अग्नि विष से विषधर से, ये अधिके दुःखदाई ।
 धर्म रतन के चोर प्रबल अति, दुर्गति पन्थ सहाई ॥११॥
 मोह उदय यह जीव अज्ञानी, भोग भले कर जानें ।
 ज्यों कोई जन खाय धतूरा, तो सब कंचन मानें ॥
 ज्यों-ज्यों भोग संजोग मनोहर, मनवांछित जन पावे ।
 तृष्णा नागिन त्यों-त्यों डंके, लहर जहर की आवे ॥१२॥
 मैं चक्री पद पाय निरन्तर, भोगे भोग घनेरे ।
 तो भी तनिक भये नहिं पूरन, भोग मनोरथ मेरे ॥

राज समाज महा अघ कारण, वैर बढ़ावनहारा ।
 वेश्या-सम लक्ष्मी अति चंचल, याका कौन पतयारा ॥१३॥
 मोह महारिपु वैर विचास्यो, जगजिय संकट डारे ।
 तन काराग्रह वनिता बेड़ी, परिजन जन रखवारे ॥
 सम्यग्दर्शन ज्ञान चरन तप, ये जिय के हितकारी ।
 ये ही सार, असार और सब, यह चक्री चितधारी ॥१४॥
 छोड़े चौदह रत्न नवोनिधि, अरु छोड़े संग साथी ।
 कोड़ि अठारह घोड़े छोड़े, चौरासी लख हाथी ॥
 इत्यादिक सम्पति बहुतेरी, जीरण तृण-सम त्यागी ।
 नीति विचार नियोगी सुत को, राज्य दियो बड़भागी ॥१५॥
 होय निशल्य अनेक नृपति संग, भूषण वसन उतारे ।
 श्री गुरु चरन धरी जिनमुद्रा, पंच महाव्रत धारे ॥
 धनि यह समझ सुबुद्धि जगोत्तम, धनि यह धीरजधारी ।
 ऐसी सम्पत्ति छोड़ बसे वन, तिन पद धोक हमारी ॥१६॥

(दोहा)

परिग्रह पोट उतार सब, लीनों चारित पन्थ ।
 निज स्वभाव में थिर भये, वज्रनाभि निग्रन्थ ॥

अरहन्त के प्रतिबिम्ब का वचन द्वार से स्तवन करना, नमस्कार
 करना, तीन प्रदक्षिणा देना, अंजुलि मस्तक चढ़ाना, जल-
 चन्दनादिक अष्ट द्रव्य चढ़ाना; सो द्रव्यपूजा है । अरहन्त के
 गुणों में एकाग्र चित्त होकर, अन्य समस्त विकल्प-जाल
 छोड़कर गुणों में अनुरागी होना तथा अरहन्त के प्रतिबिम्ब का
 ध्यान करना; सो भाव पूजा है ।